

दार्शनिक-त्रैमासिक

२

वर्ष 50]

अप्रैल-जून 2004

[अंक 2

प्रधान संपादक

प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय

कुलपति

दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय

गोरखपुर



कार्यकारी संपादक

डॉ. रजनीश कुमार शुक्ल

डॉ. अखिकादत्त शर्मा

डॉ. आनन्द मिश्र

अखिल भारतीय दर्शन परिषद्

ऋग्वेदीय ज्ञानमीमांसा का स्वरूप

६५

डॉ० मुत्समीनोहर पाठक

भारतीय दर्शन-परम्परा में 'ज्ञानमीमांसा' शब्द का प्रयोग प्रायः उपलब्ध नहीं होता। वहाँ इसी अर्थ में 'प्रमाण-मीमांसा' शब्द का व्यवहार होता रहा है। वस्तुतः 'ज्ञानमीमांसा' शब्द अंग्रेजी के 'एपिस्टेमोलॉजी' (Epistemology) का हिन्दी रूपान्तर है। पाश्चात्य दर्शनों में यह शब्द बहुशः प्रयुक्त है। वहाँ इसका प्रयोग विभिन्न तत्वों के सम्बन्ध में दिए गए तर्कों के लिए किया गया है। भारत में 'प्रमाणमीमांसा' के अन्तर्गत प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा प्राप्त ज्ञान, उसके स्रोत तथा प्रामाण्य-अप्रामाण्य आदि का विवेचन इष्ट रहा है। इस प्रकार भारतीय 'प्रमाणमीमांसा' ही आधुनिक 'ज्ञानमीमांसा' के विषयों को ग्रहण करती है। भारतीय दर्शन में इसकी विलनी विशद एवं विस्तृत विवेचना की गई है, उतनी अन्यत्र नहीं की गई है। जहाँ तक ऋग्वेद का प्रश्न है, विषय की प्राचीनतम कृति होते हुए भी उसमें हमें प्रायः सभी तत्वों या अनुशासनों के बीच किसी-न-किसी रूप में उपलब्ध हो जाते हैं। दर्शन, अथवा भारतीय दर्शन का मूल उल्लेख भी ऋग्वेद में ही निहित है। वहाँ ऋग्वेद में निहित ज्ञानमीमांसा के बिन्दुओं के माध्यम से उसके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास अपेक्षित है।

भारतीय दर्शन-परम्परा में 'प्रमा', 'प्रमाण', 'प्रमाता' और 'प्रामिति' शब्दों का प्रयोग ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत किया गया है। ये सभी शब्द 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'माङ्' धातु से क्रमशः अङ्, ल्युट्, तुच् और क्तिन् प्रत्ययों के योग से निम्न होते हैं। 'माङ्' धातु नापने के अर्थ में पठित है, अतः सामान्यतः जो मापे या जिसे मापा जाए, वह प्रमा, जिससे मापा जाए, वह प्रमाण तथा जो मापे, वह प्रमाता कहलाता है। 'प्रामिति' शब्द का प्रयोग प्रायः 'प्रमा' के अर्थ में ही किया जाता है। न्यायदर्शन में यथार्थ अनुभव (ज्ञान) को 'प्रमा' कहा जाता है।^१ ऋग्वेद में 'प्रमा' शब्द का प्रयोग दो बार किया गया है।^२ प्रथम बार प्रयुक्त इस शब्द का अर्थ सायण ने 'प्रमाण' या 'इयत्ता' किया है।^३ द्वितीय बार भी उन्होंने इसे उक्त अर्थ में ही प्रयुक्त माना है।^४ यदि ऋग्वेद में इसका अर्थ इयत्तापरिज्ञान भी माना जाय, तो इसके अवान्तरकारत्वन अर्थ से कोई विशेष नहीं प्रतीत होता, क्योंकि जब तक किसी वस्तु के बारे में पूर्ण ज्ञान नहीं होगा, हम उसकी इयत्ता या सीमा नहीं बता सकते। इस प्रकार दर्शनशास्त्र में प्रयुक्त 'प्रमा' शब्द ऋग्वेद से ही लिया गया प्रतीत होता है।

ऋग्वेद के ज्ञानसूक्त (१०/७१) में भी आपाततः 'प्रमा' शब्द का प्रयोग दृष्टिगत होता है, किन्तु पदच्छेद करने पर वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाती है। मन्त्रांश इस प्रकार है-

यदेषां श्रेष्ठं यदीष्टप्रामाण्यं पृषा तदेषां निर्दिष्टं गृह्यति: ।

सायण ने यहाँ 'यत् अतिप्रम आसीत्' इस प्रकार अन्वय करते हुए 'अतिप्र' का अर्थ- 'पापहीन वेदाध्ययन' किया है ।^{१०} ऋग्वेद वेदालंकार ने इस मन्त्र में 'प्रमा' शब्द को स्वतन्त्र मानकर इसका अर्थ- 'यह ज्ञान का स्वामी सर्वप्रथम वाणी अर्थात् वेद की ऋचाओं में इन प्रमा वाली गाना वस्तुओं के नाम देता है', किया है ।^{११} उनके मन्त्रार्थ में कहीं भी 'अति' का अर्थ नहीं दिया गया है, जबकि प्रमा को अलग पद मानने पर 'यत् अति-प्रमा आसीत्' इस प्रकार अन्वय और पदच्छेद करना पड़ेगा । अन्य किसी भी विद्वान् ने उक्त मन्त्र में 'प्रमा' को पूरक पद के रूप में स्वीकार नहीं किया है । अतः मन्त्रार्थ का अन्वय 'अतिप्रम आसीत्' इत प्रकार करना ही उचित प्रतीत होता है ।

वस्तुतः प्रमाणाँ का प्रमाणत्व किसी भी वस्तु (पदार्थ) की ज्ञानप्राप्ति के साधन के रूप में ही है । किसी भी ज्ञान के प्रति साहच्य के रूप में प्रत्यक्ष-अनुमान इत्यादि प्रमाणाँ को उपन्यस्त किया जाता है । ऋग्वेद में हमें इन शब्दों का स्पष्ट प्रयोग तो उपलब्ध नहीं होता, किन्तु इनका भाव या फल अन्वय ही उक्त अर्थों में ही दृष्टिगत होता है । एक मन्त्र में आया है - प्रथम जायमान को किसने देखा ?^{१२} मन्त्र में प्रयुक्त क्रियापद 'ददर्श' तथा प्रश्न के भाव से यह स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि ऋषि को न केवल 'प्रत्यक्ष' का ही, अपितु 'चाक्षुष प्रत्यक्ष' की धारणा का भी स्पष्ट ज्ञान है । इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द - तीनों प्रमाणाँ के बीच निकाले जा सकते हैं । मन्त्र इस प्रकार है -

'को अस्य वेदं प्रथमस्त्याहः क इ ददर्श क इह प्रवीचत् ।'

प्रस्तुत मन्त्र में यमी यम से कहती है - हम दोनों के इस प्रथमतः होने वाले सम्बन्ध को कौन जान सकता है ? कौन इसे यहाँ देख रहा है ? तथा कौन आगे इसे बताएगा ? तात्पर्य यह है कि उनके सम्बन्ध का ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द किसी भी प्रमाण से गम्य नहीं है । मन्त्र में आए 'क इम् ददर्श' से प्रत्यक्ष प्रमाण का बोध होता है । 'को अस्य वेदं प्रथमस्त्याहः' से यहाँ अनुमान प्रमाण का संकेत प्राप्त होता है । अनुमान की प्रसक्ति व्याप्ति-ज्ञान के पश्चात् ही हो सकती है । व्याप्ति के लिए लिङ्ग तथा लिङ्गी का साहचर्य-ज्ञान आवश्यक है । यह साहचर्य-ज्ञान मात्र एक बार दोनों को एक साथ देखने से उत्पन्न नहीं हो सकता । इसके लिए अनेक बार दोनों को एक साथ देखा जाना आवश्यक है । यम-यमी द्वारा क्रियमाण सम्बन्ध प्राथमिक था । उसे कोई प्रत्यक्ष भी नहीं कर रहा था, अतः अनुमान प्रमाण द्वारा उसका ज्ञान शक्य नहीं था ।^{१३} शब्द प्रमाण' आद्य वाक्यों पर

आधातित होता है ।^{१४} आद्यजन भी प्रत्यक्षादि के आधार पर ही वाक्य प्रस्तुत कर सकते हैं । जब यम-यमी के सम्बन्ध को प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा नहीं जाना जा सकता था, तो आर्यों द्वारा वाक्यरचना भी अशक्य थी । इसी बात को मन्त्र में आए 'क इह प्रवीचत्' द्वारा निर्दिष्ट किया गया है । प्रस्तुत मन्त्र पर सायणभाष्य द्वारा भी उक्त प्रमाणाँ के निर्देश प्राप्त होते हैं ।^{१५} एक अन्य मन्त्र में भी हमें अनुमान प्रमाण का स्पष्ट उपादान दृष्टिगोचर होता है । मन्त्र इस प्रकार है -

'शुकमयं धूमभागादप्यथ विपुवर्त्तं पुर पुनवरेण ।'

इस मन्त्र में ऋषि दीर्घतमा कहते हैं कि मैंने शुक गोमय से निकलने वाले धूम को दूर से देखा । व्याप्तिमान् इस निकृष्ट धूम के माध्यम से मैंने इसके कारणभूत अग्नि को भी देखा । इस प्रकार यहाँ दूरस्थ हेतुभूत धूम के दर्शन से साध्य अग्नि के अनुमान का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है । सायणभाष्य से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है ।^{१६}

वेद, शब्दप्रमाण के सर्वोच्च निदर्शन हैं । जो तथ्य प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा ज्ञात नहीं हो सकते, उन्हें वेद द्वारा जाना जा सकता है । इसी में वेद का वेदत्व है ।^{१७} वस्तुतः वेद और ज्ञान अविभक्त हैं । ऋग्वेद के दशम मण्डल का ७१वाँ सूक्त 'ज्ञानसूक्त' के नाम से प्रसिद्ध है । इसके श्रेष्ठि आङ्गिरस बृहस्पति तथा देवता ज्ञान हैं । इसमें वाणी अर्थात् शब्द के प्राक्तन्य का विवेचन किया गया है । सूक्त के प्रथम मन्त्र में मनुष्यों के प्रेम के कारण उनमें वाणी के आविर्भाव की चर्चा की गई है ।^{१८} डॉ० मुंशीयाम शर्मा के अनुसार इस मन्त्र में वाणी के पय तथा परयन्ती रूपों की चर्चा की गई है ।^{१९} वाणी के चार रूप होते हैं- पय, परयन्ती, मध्यमा और वैखरी ।^{२०} पहला रूप अविन्त्य है । साय ज्ञान उसी में समाविष्ट है, सारे नाम भी वही हैं । सृष्टि के प्रसंग में सर्वप्रथम महत् या बुद्धितत्त्व उत्पन्न होता है । वाणी का पय रूप भी इस बुद्धिरूपी गुहा के साथ परयन्ती रूप में प्रकट हो जाता है । बुद्धितत्त्व में सत्यगुण प्रधान रहता है, अतः वाणी का परयन्ती रूप भी सत्यप्रधान है । सत्यगुणप्रधान होने के कारण ही मन्त्र में परयन्ती वाणी को श्रेष्ठ तथा निष्पाप ज्ञान कहा गया है ।

उद्धृत सूक्त के द्वितीय मन्त्र में भी वाणी के उक्त आविर्भाव को पल्लवित किया गया है ।^{२१} डॉ० शर्मा ने इसमें मध्यमा रूप को उपपन्न किया है ।^{२२} महत् या बुद्धितत्त्व से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है तथा अहङ्कार से मन की । वाणी का परयन्ती रूप बुद्धितत्त्व में सम्भक्ति था, अब अहङ्कार द्वारा मध्यमा रूप का उदय मन में हुआ । मन के साथ विश्लेषण की क्रिया जुड़ी रहती है । जिस प्रकार चलनी से सतु को साफ़ किया जाता है, उसी प्रकार धीरे धीरे मन में वाणी को परिष्कृत करते हैं । वाणी के सखा यहाँ वाणी की

नीची को परचान लेते हैं। पदार् लक्ष्मी इनकी वाणी में निहित रहती है। यहाँ लक्ष्मी का तात्पर्य लक्षित कराने वाली शक्ति से है। मध्यमा वाणी में ही अर्थ लक्षित होने लगते हैं। परचयनी रूप में तो अर्थों का दशानमात्र उपलब्ध रहता है। इसीलिए उसमें सख्य नहीं होता। सख्यभाव के लिए द्रैत का होना आवश्यक है। यह परचयनी की समुपगत के पश्चात् मध्यमा के रूप में ही सम्भव है।

सूक्त के तीसरे मन्त्र में पूर्णतः शब्दप्रमाण के उपन्यस्त होने का संकेत प्राप्त होता है।¹⁰ डॉ० शर्मा ने इसमें वैखरी वाणी का वर्णन माना है।¹¹ वाणी के मध्यमा रूप में जो अर्थ लक्षित हो रहे थे, अब उनके प्रकट होने का समय आ गया। अब ये वैखरी वाणी के रूप में सर्वसुलभ होंगे। वैखरी रूप को प्राप्त करने का माध्यम यज्ञ ही है। अतः यज्ञ द्वारा वाणी की इस पदवी को खोजा गया तथा उसे ऋषियों की मनोभूमि में प्रविष्ट पाया गया। उस पवित्र वाणी को सभी तरफ से ग्रहण करके धीरे-धीरे ने अनेक स्थानों में या अनेक रूपों में विभक्त कर दिया। जो वाणी संहित रूप में थी, वह विभक्त हो गयी। जो एक तत्त्व था, वह चार भागों में हो गया। ये गायत्री आदि सात छन्द उन्नी वाणी की स्तुति करते हैं। यही वाणी, शब्दप्रमाण का मूल है। इसी के द्वारा हमें परोक्ष विषयों का भी ज्ञान प्राप्त होता है। वस्तुतः वाणी अर्थात् शब्द और ज्ञान में कोई भेद नहीं है।

उपर्युक्त तथ्यों एवं विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि ऋग्वेद में ज्ञानमीमांसा का स्वतन्त्र रूप से कोई दार्शनिक विवेचन नहीं किया गया है, तथापि हमें उसमें इसके बीच अवश्य ही उपलब्ध होते हैं, जो आगे चलकर दार्शनिक विचारसरणी में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं।

संस्कृत-प्राप्ययानकेन्द्र,
विक्रमविश्वविद्यालय, उज्जैन, (१० प्र०)

सन्दर्भ

१. यथावाङ्मनुषवः प्रमा - केशवमिश्र - तर्कभाषा, पृ० १६
२. ऋग्वेद, १०/१३०/३ तथा ७
३. कासीयुमा प्रतिमा किं निदानम् । ऋग्वेद, १०/१३०/३
प्रमा प्रमाणम् इत्यत्र का कथंभूता आसीत् । बही, सायणभाष्य ।
४. सुहर्षमा ऋषयः सुत दैव्याः । ऋग्वेद, १०/१३०/७
सहप्रमाः । प्रमा यज्ञस्येयत्तापरिज्ञानम् । बही, सायणभाष्य ।
५. ऋग्वेद १०/७१/१
६. यत् पडव्य अरिदं पापरहितं वेदार्थज्ञानम् आसीत् । बही, सायणभाष्यम् ।
७. वेदालङ्कार, जयदेव - शैलिक दर्शन, पृ० ३३७
८. को ददर्श प्रष्टुं जातमानम् । ऋग्वेद - १/१६४/४
९. बही, १०/१०/६
१०. आत्तवाक्यं शब्दः । केशवमिश्र - तर्कभाषा, पृ०
११. श्रवणस्याहः सञ्चक्षिरे अस्य इदमन्योन्यसंगमनं कः वेद जानाति । शाखमेऽङ्कि यत्किञ्चन तदनुमानमाश्लय न कश्चिदपि ज्ञानं शारतेतीत्यर्थः । इह अस्मिन् शाखे शाखेऽहः क इम् इदं संगमनं दर्शयं पश्यति कः शाखेवत् शाख्यापयति । न कोऽपीत्यर्थः । ऋग्वेद - १०/१०/६
१२. बही, १/१६४/४३
१३. शक्यमायं शकृन्मयं शुष्कगोमयसम्पूरं घृणम् आसात् नातिदूरे अपश्यम् । विपुवत व्यतिमता एता अनेन अवरोण निक्कुडेन घृणेन परः परस्तात् तत्कारणपूतयन्निम् अपश्यम् । बही, सायणभाष्य ।
१४. इत्यशेषानुमित्या वा परन्प्रायो न विद्यते ।
एवं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ॥ सायण, तीर्त्तिरीयभाष्यभूमिका ।
१५. ऋग्वेदे प्रष्टुं अर्थं यत्परं नाम्नेषुं दधानाः ।
यदेतौ श्रेष्ठं पदं प्रमासीत् पूणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥ ऋग्वेद - १०/७१/१
१६. शर्मा, मुण्डीराम - वेदार्थशास्त्रिका, पृ० २०३
१७. (क) ऋग्वेद - १/१६४/४५

६ वर्ष ५० - दार्शनिक त्रैमासिक - अंक २

(ख) परा वास्तुलोकस्थया पश्यन्ती नाभिसंस्थिता ।

कृदिस्या मयामा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा ॥ नारोणपट्ट-परमत्सुप्तसूत्रा, पृ० २३

१८. सक्तमिव तिर्यक्ता पुनस्तौ यत्र धीरा मर्कसा वाचुमकत ।

अत्रा सञ्जायः सुञ्जानि जानते कुक्ष्यां लक्ष्मीर्निहितसि वाचि ॥

ऋग्वेद, १०/७१/२

१९. शर्मा, मुंशीराम - वेदाव्यवहिका, पृ० ३०४

२०. सुतेन वाचः पट्टवोपमायत् तामव्यवहिक्युर्विषु प्रविष्टाम् ।

तामापुन्य व्यदद्युः पुकरा तां सुपुत्रा अवि सं नवते ॥ ऋग्वेद, १०/७१/३

२१. शर्मा, मुंशीराम - वेदाव्यवहिका, पृ० ३०५ ।

